आत्मचिन्तनम्

भूमिका

मोहमाया के संसार में जीवनयापन करते हुए परमवाञ्छनीय आत्मसाक्षात्कार के लिए आत्मविषयक चिन्तन करना अत्यन्त कठिन काम है। जैसे सम्यक् प्रकाश के अभाव में रज्जु में सर्प की प्रतीति हो जाती है और भयादि उत्पन्न हो जाते हैं वैसे ही अज्ञान काल में ब्रह्म में जगत् प्रतीत होता है और मोहममतादि उत्पन्न हो जाते हैं तथा जैसे प्रकाश की सत्ता होने पर रज्जु का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है और सर्प की सत्ता का नाश हो जाता है, तथा परिणामतः भयादि नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान के दूर हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार (अपरोक्षानुभव) होता है और फलतः संशय, मोह, भय आदि नष्ट हो जाते हैं। यह आत्मस्वरूपज्ञान (आत्मा का अपरोक्ष अनुभव) अनवच्छिन्न तथा तीव्र आत्मविषयक चिन्तन के बिना संभव नहीं है। 'आत्मविषयक' का अर्थ है 'आत्मा है विषय या आलम्बन जिसका' ऐसा ध्यान या अनुसन्धान। ऐसा ध्यान-चिन्तन ईश्वररूप सद्गुरु की कृपा के बिना सम्भव नहीं है। सद्गुरु से अनुग्रहरूप में प्राप्त यह 'आत्मचिन्तनम्' मुमुक्षुओं के लिए आत्मा के दुर्लभ अपरोक्ष अनुभव करने का सरल सोपान है।

'आत्मचिन्तनम्' में इक्कीस श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में परम तत्त्व के निर्गुण तथा सगुण रूपों की वन्दना की गयी है। यह तथ्य परमात्मा के दोनों रूपों की उपासना के महत्त्व का परिचायक है। प्रथम श्लोक दूसरे श्लोक के साथ मिलकर 'आत्मचिन्तन' की विषयवस्तु का ज्ञान कराता है। तीन से सत्रह तक के श्लोक पाँच त्रिकों में उपनिबद्ध हैं। पहले त्रिक का विषय 'आत्मा का स्वरूप' है। साथ ही साथ यह त्रिक आत्मा के देह तथा संसार के साथ

सम्बन्ध का परिचय भी देता है। दूसरा त्रिक जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन करता है। तीसरा यह बताता है कि ब्रह्म के साथ आत्मा के तादात्म्य की उपपत्ति संभव है। चौथे त्रिक में तुरीयावस्था प्राप्त आत्मा का उल्लेख है। आत्मा के ओंकाररूप सनातन धर्म का ज्ञान पाँचवे त्रिक में कराया गया है। अठारहवें श्लोक में पूर्ववर्ती सत्रह श्लोकों का सार है तथा उन्नीसवां श्लोक आत्मविषयक चिन्तन की वरीयता तथा सद्गुरु की असीम कृपा का बोध कराता है। बीसवें श्लोक में दो संकेतों से मुमुक्षुओं को यह बताया गया है कि आत्मोपलब्धि कैसे की जा सकती है तथा इक्कीसवें श्लोक में अज्ञानी तथा आत्मानुभूतिसम्पन्न की तुलना करके आत्मज्ञान का फल बताया गया है।

कई स्थानों पर एक पद के एक से अधिक अर्थ दिये गये हैं। इसके दो कारण हैं: संस्कृत भाषा का स्वरूप तथा श्लोकों के अर्थ की गम्भीरता। यह भी सम्भव है कि दिये गये अर्थों से अधिक अर्थ भी हों।

ॐ श्रीगणेशाय नमः **ॐ श्रीपरमात्मने नमः**

नमः परमर्षिभ्यः सद्गुरुभ्यः

॥ अथ आत्मचिन्तनम् ॥

सद्गुरु बाबाजी ने मुमुक्षुओं के लिए साक्षात् मोक्ष के साधन आत्मचिन्तनम् को प्रकट किया है। इसका प्रतिपाद्य आत्मा है। आत्मा (ब्रह्म) को ही चिन्तन का विषय बनाना चाहिए। परम सत्य ब्रह्म को ही प्राप्त करना मनुष्य का उद्देश्य होना चाहिए।

यद्यपि सारा **'आत्मचिन्तनम्'** मंगलमय है तथापि प्रथम श्लोक और भी अधिक मांगलिक है क्योंकि इसमें सगुण तथा निर्गुण दोनों की वन्दना है। यहाँ नमस्कार तथा वस्तुनिर्देशरूप मंगल प्रारम्भ में अपने (मंगल के) सम्पादन की अनिवार्यता का द्योतन करता है । आत्मा अपने अनुपहित रूप में ब्रह्म ही है। अत एव भक्ति और विनय निसर्गतः उसी के उद्देश्य से किए जाते हैं । श्लोक की प्रथम पंक्ति में निर्गुण तथा दूसरी पंक्ति में सगुण ब्रह्म की वन्दना की गई है । आत्मविषयक चिन्तन में भक्ति की अनिवार्यता का प्रतिपादन भी यही श्लोक करता है ।

ॐ नमोऽनन्ताय नित्याय निरस्ताध्यस्तधर्मिणे ।
[१]पुरुषायाप्रमेयाय नमस्ते हेतुहेतवे ॥१॥

अनुवाद – अन्तरहित, सनातन, अध्यारोपित धर्मों से शून्य अर्थात् जीव की हेतुभूत अज्ञानादि उपाधियों से शून्य को प्रणाम। प्रकृति के भी प्रेरक, अचिन्त्य हृदयगुहा में रहने वाले (परम पुरुष) आपको प्रणाम[२] ॥१॥

१. कालेनानवच्छिन्नाय (पाठान्तर)

२. श्लोक के पूर्वार्ध में निर्विशेष अद्वैत तत्त्व की वन्दना की गई है जबकि उत्तरार्ध में हृदयगुहानिवासी परम पुरुष (सगुण ब्रह्म) को नमस्कार किया गया है । नमस्कारद्वय से यहाँ निर्गुण तथा सगुण का समन्वय विवक्षित है।

प्रथम श्लोक में परमतत्त्व की वन्दना की गई है । अब उनके स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है ।

सर्वाश्रयः सकलसर्गमयोऽव्ययश्च
सर्वेश्वरः सफलकर्मकलोऽक्रियश्च ।
सर्वान्तरः सततशान्तिवहोऽवकाशः
जिज्ञास्यतेऽमृतपदाय परात्परो ज्ञः ॥२॥

अनुवाद - (वह परमतत्त्व) सबका आधार है । सारी सृष्टि उसका शरीर है (परन्तु फिर भी) वह अविकारी है । वह सबका नियन्ता है और (सृष्टि आदि) सफल कर्म करने की कला से युक्त होते हुए (भी) निष्क्रिय है । अथवा जीवों को कर्मानुसार फल देने में कुशल होते हुए भी स्वयं क्रियारहित है । सबके भीतर (सार रूप में) निवास करने वाला वह निरन्तर शान्ति को वहन किए रहता है अर्थात् अव्यवहित शान्ति रूप है । वह (सर्वत्र) अनवरुद्ध (व्याप्त) है अर्थात् वह सर्वव्यापक है । शुद्ध ज्ञानस्वरूप (ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान रूप त्रिपुटी से शून्य) है । वह प्रकृति से भी परे है (और अमर पद अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए) वह जिज्ञासा का विषय बनता है। दूसरे शब्दों में मुक्ति की उपलब्धि के निमित्त जिसको जानने की इच्छा की जाती है ॥२॥

परमतत्त्व के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व की प्रामाणिकता का प्रतिपादन पहले त्रिक में किया जाएगा । इस त्रिक के प्रथम श्लोक में बताया जाएगा कि आत्मा सबका स्वयं अपना ही रूप है तथा सब मनुष्यों में रहता है; अतः स्वतःप्रमाणित है तथा सबके द्वारा स्वीकार किया जाता है क्योंकि कोई भी अपने आपको नकार नहीं सकता। यदि अपने आपका निराकरण मान भी लिया जाए तो निराकरण करने वाला ही आत्मा है।

आस्तिके नास्तिके चास्ति सुप्ते जागरितेऽपि च ।
स्वभूतोऽयं स्वतःसिद्ध आत्मा कैर्नैव मन्यते ।
आत्मा सर्वैर्हि मन्यते ॥३॥

अनुवाद - आत्मा आस्तिक तथा नास्तिक दोनों में विद्यमान है । यह सुषुप्ति तथा जाग्रत् दोनों अवस्थाओं में रहता है (स्वप्नावस्था में भी)। आत्मा अपना स्वरूप ही है (अत:) स्वत: प्रमाणित है । किनके द्वारा (ऐसा आत्मा) स्वीकृत नहीं किया जाता? (अर्थात् ऐसे) आत्मा का अस्तित्व सबके द्वारा माना ही जाता है ।।३।।

प्रेमास्पद आत्मा सब प्राणियों के शरीर में विद्यमान है । इसकी सत्ता के कारण ही सब प्राणी अपने-अपने शरीर से प्रेम करते हैं तथा उसमें सन्तुष्ट रहते हैं । चतुर्थ श्लोक यह बताता है कि स्पष्ट रूप से लक्षित प्रेमास्पद आत्मा सभी के द्वारा स्वीकार किया जाता है ।

यत: प्रीताश्च तृप्ताश्च स्वेषु देहेषु जन्तव: ।
प्रेमास्पदं सुसंलक्ष्य[१] आत्मा कैर्नैव मन्यते ।
आत्मा सर्वैर्हि मन्यते ।।४।।

अनुवाद - आत्मा प्रेम का आधार है (क्योंकि इसी से सब प्राणियों को सुख तथा सन्तोष प्राप्त होता है परन्तु अज्ञानवश वे सुख-सन्तोष का स्रोत अपने शरीरों को समझते हैं अत:) अपने शरीरों में प्रसन्न तथा तृप्त रहते हैं । सुन्दर स्वरूप वाला आत्मा शुद्ध अन्त:करण में अच्छी तरह समझा (अनुभूत किया) जा सकता है । ऐसे आत्मा को कौन नहीं मानेगा? (अर्थात्) सब ही ऐसे आत्मा को स्वीकार करेंगे ।।४।।

१. सुसंलक्ष्य - शुद्ध अन्त:करण में आत्मा का अपरोक्ष अनुभव होता है ।

अब यह प्रतिपादित किया जाएगा कि आत्मा की सत्ता सर्वत्र अनुस्यूत है तथा इसीलिए वह सबका सर्वस्व है ।

यस्य भासा विभातीदं भावेऽभावे भवोऽभव: ।
सर्वेषामेव सर्वस्वमात्मा कैर्नैव मन्यते ।
आत्मा सर्वैर्हि मन्यते ।।५।।

अनुवाद - जिसके प्रकाश से अर्थात् आत्मा के प्रकाश से यह जगत् (बाहर तथा भीतर से) प्रकाशित हो रहा है । जब तक (आत्मा की) सत्ता है (दूसरे शब्दों में जब तक आत्मा शरीर या संसार में विद्यमान है) तब तक ही शरीर

या संसार का अस्तित्व है । (आत्मा के) अभाव में (अर्थात् जब आत्मा शरीर या संसार को छोड़ देता है तब शरीर या संसार भी) सत्ताहीन हो जाता है । (अर्थात् संसार या शरीर का विलय हो जाता है) ।।५।।

अथवा - श्रद्धा-भक्ति के रहने पर आत्मा की सत्ता का बोध होता है लेकिन जब श्रद्धा-भक्ति नहीं रहती तब आत्मा की सत्ता भी प्रतीत नहीं होती । (अतः) आत्मा सबका सर्वस्व (सार) ही है । कौन ऐसे आत्मा को नहीं मानेगा? (अर्थात् ऐसे आत्मा के अस्तित्व को वास्तव में) सब लोग स्वीकार करते ही हैं ।।५।।

आत्मा के अस्तित्व की प्रामाणिकता का युक्तिसहित प्रतिपादन किया जा चुका है । अब अग्रिम त्रिक के प्रत्येक श्लोक के पहले तीन चरणों में जीवात्मा का वर्णन है तथा चौथे चरण में आत्मा के वास्तविक स्वरूप का परिचय दिया गया है । प्रथम श्लोक का प्रतिपाद्य विषय है जगत् का अज्ञानमय स्वरूप ।

स्वप्नान् पश्यति सुप्तो वै सुप्तेर्जागर्ति भावितः ।
सुप्तिमात्रं जगद्ध्येतदात्मा साक्षी सदक्षरः ।।६।।

अनुवाद - सोते हुए जीव स्वप्न देखता है, फिर वासनाओं के प्रभाव में ही जागता है । यह संसार सुषुप्ति मात्र ही है (अर्थात् अज्ञान मात्र ही है)। आत्मा साक्षी (भूत, वर्तमान तथा भविष्यकालिक वृत्तियों तथा जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं का साक्षात् द्रष्टा) है, सत्य तथा अविनाशी है ।।६।।

'यह जगत् सुषुप्ति मात्र है' इस कथन का अभिप्राय आगे स्पष्ट किया जाएगा । अज्ञानकाल में जाग्रदवस्था भी अज्ञानावस्था ही है ।

ज्ञानमज्ञानपर्यन्तं जीवनं मृत्युसंवृतम् ।
स्वप्नवत् सर्वमस्पष्टमात्मा साक्षी सदक्षरः ।।७।।

अनुवाद - (वृत्ति) ज्ञान अज्ञान से आवृत है अथवा जाग्रदवस्था में व्यावहारिक ज्ञान की सत्ता अज्ञान रहने तक रहती है । जीवन मृत्यु की परिधि में है । सब कुछ (व्यावहारिक कार्यकलाप) स्वप्न की तरह अस्पष्ट है । आत्मा साक्षी, सत्य तथा अविनाशी है ।।७।।

अब अग्रिम श्लोक में दृष्टान्त की सहायता से यह प्रतिपादन किया जा रहा है कि तीनों अवस्थाओं तथा दृश्यमान जगत् का अज्ञान से कैसे जन्म होता है?

परमोपात्तपर्जन्यविद्युद्दामाहिसंभ्रम[१]-
भ्राजमानः प्रपञ्चोऽत्र आत्मा साक्षी सदक्षरः ॥८॥

अनुवाद - परब्रह्म (मायारूप) मेघ[२] को स्वीकार करके (अपने को उससे आवृत कर लेते हैं) उस मेघ में चिदाभास[३] या पराप्रकृति भूत जीव रूप विद्युद्-रज्जु (की सत्ता प्रकट होती है) उस बिजली-रज्जु में भ्रम के कारण अपराप्रकृतिभूत[४] जगद्रूप सर्प[५] की प्रतीति होती है। (अभिप्राय यह है कि रज्जु में अहिभ्रम की तरह जीव तथा जगत् का ब्रह्म में आभास होता है) ॥८॥

१. (अ) पर्जन्य का अर्थ अज्ञान की आवरण शक्ति तथा विद्युद् का अर्थ विक्षेप शक्ति लिया जा सकता है । तमस् की आवरण शक्ति वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है तथा विक्षेप शक्ति को उत्तेजित होने का अवसर देती है । रजस् विक्षेपशक्ति का उद्भावक है । यह क्रिया स्वरूप है । जब किसी वस्तु का वास्तविक रूप आवरण शक्ति से आच्छादित हो जाता है तो विक्षेपशक्ति से नया रूप उद्भावित होता है। प्रत्येक क्रिया का स्रोत यही विक्षेपशक्ति है ।

(ब) विद्युद्दाम सृष्टिगत सत्य तथा सर्प सृष्टिगत असत्य की ओर इंगित करता है।

२. जैसे सूर्य समुद्र, नदी आदि से पानी लेकर मेघ की सृष्टि करता है तथा उसी मेघ से मानो अपने को आवृत होने देता है । वैसे ही परब्रह्म अपनी ही माया से मानो अपने को ढक लेते हैं या प्रकृति या बुद्धि की सृष्टि करके अपने वास्तविक रूप की अन्यथा प्रतीति कराते हैं परन्तु जिस प्रकार बादल सूर्य से वास्तव में बहुत दूर होते हैं और सूर्य के प्रकाश पर तनिक भी प्रभाव नहीं डालते उसी प्रकार माया से ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप भी प्रभावित नहीं होता ।

३. चिदाभास बुद्धि में आत्मा का प्रतिबिम्ब है । आत्मा, बुद्धि तथा बुद्धिगत आत्मप्रतिबिम्ब के संघात को जीव कहा जाता है । जीव की अन्य अभिधा पराप्रकृति भी है (गीता, ७.२)।

४. अपराप्रकृति दृश्यमान जगत् है जो भ्रमजन्य और वैविध्यपूर्ण है । यह पञ्चमहाभूत, अहंकार तथा बुद्धि से घटित है । (कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा स्थूल शरीर भी इन्हीं तीन घटकों के अन्तर्गत हैं ।)

५. धुंधले प्रकाश में भूमि पर पड़ी हुई रज्जु भ्रम से सर्प जैसी प्रतीत होती है और भय उत्पन्न हो जाता है । उसी तरह चैतन्य के अज्ञान से चैतन्य में ही संसार की प्रतीति होती है और उससे राग द्वेष तथा भय उत्पन्न होते हैं ।

ऊपर जीवात्मा का सामान्यज्ञान बताया गया है । अब ब्रह्म से तादात्म्य की विशेष उपपत्ति प्रस्तुत की जाएगी । क्योंकि आत्मा के सामान्य ज्ञानमात्र से मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती इसलिए अग्रिम त्रिक में उन उपायों का विवरण प्रस्तुत किया जाएगा जिनसे जीव अपने वास्तविक स्वरूप (ब्रह्मरूप) की अनुभूति करने में समर्थ होता है ।

एको गतिषु संभिन्नः किंरूपः किल चिन्त्यताम् ।
गुरुयोगात् प्रबुद्धः स्यादात्मा ब्रह्मोपपद्यते ॥९॥

अनुवाद - (जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति) अवस्थाओं में, (नरक, स्वर्गादि विभिन्न) परिस्थितियों में, (शैशव, यौवन तथा वार्धक्य) अवस्थाओं में एक जीवात्मा भिन्न-भिन्न (प्रतीत) होता है । (अतः) निश्चय ही यह चिन्तन करना चाहिए कि जीवात्मा का (वास्तविक) स्वरूप क्या है? (इस चिन्तन के परिणामस्वरूप जीव का ब्रह्म से तादात्म्य होने पर) यह उपपन्न हो जाता है कि जीवात्मा ही ब्रह्म है ॥९॥

अथवा

एक परब्रह्म विभिन्न परिस्थितियों में (विविधतापूर्ण जगत् के रूप में) विविध प्रतीत होता है । (अतः) अवश्य ही यह विचार करना चाहिए कि ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? जो शिष्य गुरु के समीप जाकर उनके चरणों की सेवा करता है वह प्रबुद्ध हो जाता है (अर्थात् उसे आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है)। (तब) जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य (भी) उपपन्न हो जाता है ॥९॥

गत श्लोक में 'मैं कौन हूँ?' इस प्रश्न पर विचार करने का संकेत किया गया है । इससे यह भी ज्ञात होता है कि वेद और उपनिषदों तथा गुरूपदेश का श्रवण अनिवार्य है । तदनन्तर ही जिज्ञासु मनन तथा निदिध्यासन को अवलम्बन बना अपने स्वरूप को जानकर ब्रह्मरूप हो जाता है । अगले

श्लोक में ऐसे ध्यान का प्रतिपादन किया जा रहा है जिससे अज्ञानरूप तम के आवरण का नाश होता है और चैतन्यरूप ज्योति प्रकट हो जाती है ।

संयम्य सर्वतो वृत्तिमिन्द्रियाणि मनो मतिम् ।
योऽवशिष्येत् स्वयंज्योतिरात्मा ब्रह्मोपपद्यते ॥१०॥

अनुवाद – सब ओर से वृत्तियों को रोकने पर (अर्थात्) इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि को सब ओर से रोकने पर जो शेष रहता है वह स्वप्रकाश आत्मा है। (इस प्रकार) आत्मा (का) ब्रह्म (के साथ तादात्म्य) उपपन्न हो जाता है।।१०।।

श्रवण के अनन्तर ध्यानयोग रूप मनन का प्रतिपादन कर दिया गया है जिससे आत्मज्योति का प्राकट्य होता है । अधुना निदिध्यासन का विवेचन किया जा रहा है । निदिध्यासन का अर्थ है सुने तथा मनन किए हुए सिद्धान्त को सतत चिन्तन का विषय बनाना और उसको व्यवहार में उतारना जिससे आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।

अमानः स्यात् समानः स्यान्निर्द्वन्द्वोऽसङ्ग एव च ।
निष्कामः सर्वदानन्द आत्मा ब्रह्मोपपद्यते ॥११॥

अनुवाद – (मुमुक्षु) निरभिमान तथा समभावयुक्त हो, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों तथा आसक्ति से रहित हो (ताकि) वह निष्काम (कामनारहित) होकर सदा आनन्द से पूर्ण हो सके । (ऐसे) जीवात्मा का ब्रह्म से तादात्म्य युक्तिसंगत हो जाता है ।।११।।

जीवब्रह्मैक्य की उपपत्ति का प्रदर्शन ऊपर किया जा चुका है । अगले त्रिक में निर्विशेष आत्मा का वर्णन किया जा रहा है । जो नीरूपता को स्वीकार करते हुए विभक्त आत्मा या किसी अन्य रूपरहित परम पुरुष में विश्वास रखते हैं; जो आत्मा तथा ब्रह्म की एकरूपता में विश्वास नहीं रखते; और जो शून्यता में आस्था रखते हैं; उनके सिद्धान्तों का निराकरण करके वेदान्त के उस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाएगा जिसके अनुसार आत्मा सत्, अद्वय तथा माया से अछूता है ।

निराकारोऽपरिच्छिन्नः शून्यत्वे नैव सारता ।
चिद्घनो निर्गुणो गूढ आत्माऽद्वैतो निरञ्जनः ॥१२॥

अनुवाद – आत्मा निराकार (आकारशून्य) है (अतः) परिच्छेदरहित अर्थात् अखण्ड है। कुछ लोगों को (इस) नीरूप अखण्डता में शून्यता का भ्रम हो जाता है (लेकिन) शून्यता में सारता का सर्वथा अभाव होता है । (वह आत्मा) चैतन्यघन है, (सत्त्व, रजस्, तमस्) त्रिगुण रहित है; (अतः) छिपा हुआ है। आत्मा अद्वय (तथा) शुद्ध (अर्थात् माया से सर्वथा अस्पृष्ट) है ॥१२॥

अन्य सिद्धान्तों का निराकरण करके यह प्रतिपादित किया गया है कि आत्मा अद्वय होने से एक ही है और माया से वास्तव में अनुपहित है । यहाँ यह संशय हो सकता है कि माया से अपरिच्छिन्न शुद्ध चैतन्यभूत ब्रह्म में पञ्चीकृत जगत् की प्रतीति कैसे होती है? अग्रिम श्लोक में इस शंका का निवारण किया जा रहा है ।

अव्यक्तत्वादचिन्त्यत्वाद् ब्रह्मणि नैव विभ्रमः ।
कूटस्थे तु बहिर्बाह्य आत्माऽद्वैतो निरञ्जनः ॥१३॥

अनुवाद – ब्रह्म में भ्रम है ही नहीं क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियों तथा बुद्धि का विषय नहीं है (जो व्यक्त तथा प्रमेय है अर्थात् जो इन्द्रियों तथा बुद्धि का विषय है उसी में भ्रम हो सकता है । बुद्धि ही के किसी कारणवश भ्रान्त होने की संभावना है जो बुद्धि से परे है वह सर्वथा निर्भ्रान्त है)। कूटस्थ ब्रह्म (माया में स्थित प्रतीत होता है) परन्तु भ्रम या संसार तो उसके बाहर ही बाहर है (अर्थात् भ्रम ब्रह्म का स्पर्श नहीं कर सकता)। (इसीलिए) ब्रह्म एक तथा माया से अस्पृष्ट है॥१३॥

ऊपर यह निष्कर्ष निकला है कि अद्वैत आत्मा ब्रह्म है परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सगुण ब्रह्म की उपासना तिरस्कार्य है। निर्गुण ब्रह्म की उपासना उन मनुष्यों के लिए अत्यन्त कठिन है जो देहाध्यास बुद्धि से ग्रस्त हैं । इसीलिए शंकराचार्य जी ने कहा है कि जब तक द्वैतभावना विद्यमान है तब तक मनुष्यों के लिए सगुण ब्रह्म ही उपास्य है । वास्तव में जैसे बर्फ

तथा पिघली हुई बर्फ में कोई भेद नहीं है वैसे ही सगुण तथा निर्गुण अभिन्न है । ब्रह्म के इन सगुण तथा निर्गुण भावों का प्रतिपादन अगले श्लोक में किया जा रहा है ।

विशिष्ट इष्टतो मान्यो भक्तापेक्षितविग्रहः ।
निर्विशेषः शिवः शान्त आत्माऽद्वैतो निरञ्जनः ॥१४॥

अनुवाद - ब्रह्म भक्त की अपेक्षा या इच्छा के अनुसार शरीर धारण करते हैं। (अतः) अभीष्ट होने के कारण उपासना के योग्य हैं । उपाधिशून्य अर्थात् निर्गुण ब्रह्म कल्याणमय तथा शान्तिपूर्ण है । ब्रह्म द्वैतरहित तथा शुद्ध अर्थात् माया से अपरिच्छिन्न हैं ॥१४॥

गत त्रिक में यह प्रतिपादन किया गया है कि ब्रह्म अद्वैत तथा माया से सर्वथा अस्पृष्ट है । अब वेदों के अनुसार यह बताया जा रहा है कि आत्मा नित्य तथा सबका आधार है । प्रथम श्लोक में पहले आत्मा के ओंकारात्मक स्वरूप से परिचय कराया जा रहा है ।

वेदानां त्रिपदा सारं तस्या ओंकार उच्यते ।
ओंनामासि त्वमेवेति आत्मा धर्मः सनातनः ॥१५॥

अनुवाद - तीन पादों वाला गायत्री (मन्त्र) वेदों का सार है । उस गायत्री मन्त्र का सार ओंकार (अ उ म्) है । ओंकार नाम वाले तुम ही हो (अतः तुम आत्मा[१] हो)। आत्मा सदा रहने वाला (सबका) आधार (धर्म)[२] है ॥१५॥

१. ओंकार की तीन (अ, उ, म्) मात्राओं में बिम्बभूत मात्रारहित तुरीय का प्रतिबिम्ब पड़ता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति --- ये तीनों अवस्थायें अधिष्ठानभूत मात्राहीन तुरीय में अध्यस्त हैं। अतः ओंकार आत्मा (ब्रह्म) का वाचक है ।

२. धर्म धृ धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना । आत्मा सबका धारक तथा पोषक है। अतः धर्म है ।

गत श्लोक का निष्कर्ष यह है कि ओंकार ब्रह्म है। अतः सबका सनातन आधार है । अग्रिम श्लोक में ओंकार (प्रणव) की मात्राओं के अर्थों तथा उनके ज्ञान के फल का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

मात्राऽवस्था समाख्याता जानन्नेति त्रिधा गतिम् ।
अमात्रो निर्गतिस्तुर्य आत्मा धर्मः सनातनः ॥१६॥

अनुवाद – ओंकार (प्रणव) की तीन (अ, उ तथा मकार) मात्रायें (जीव की जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीन अवस्थाओं के) समान कही गयी हैं। इन तीन मात्राओं के ज्ञान से (विश्व[१], तैजस[२] तथा प्राज्ञ[३] रूप) तीन प्रकार की गति प्राप्त होती है । (आत्मा की) चौथी (अवस्था) मात्राहीन तथा गतिशून्य है । (ऐसा ओंकार रूप) आत्मा (सबका) सनातन आधार है ॥१६॥

१. जो अकार मात्रा की जाग्रदवस्था के साथ एकरूपता को जान लेता है इसी जन्म में अथवा जन्म लेकर वह समस्त विश्व के ऐश्वर्यों का उपभोग करता है तथा जगत् में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है । विश्व का ज्ञान प्राप्त कर उसका वैश्वानर के साथ तादात्म्य हो जाता है।
२. जो उकार तथा स्वप्नावस्था की एकरूपता का ज्ञान कर लेता है वह सूक्ष्म तत्त्वों के ज्ञान तथा अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है । तैजस का ज्ञान प्राप्त कर उसका हिरण्यगर्भ के साथ तादात्म्य हो जाता है ।
३. जो मकार तथा सुषुप्ति की एकरूपता जान लेता है वह एकाग्रता तथा निष्कामता से सम्पन्न हो जाता है । प्राज्ञ का ज्ञान प्राप्त कर उसका अव्यक्त (ईश्वर) के साथ तादात्म्य हो जाता है ।

ऊपर यह प्रतिपादन किया गया है कि प्रणव की तीन मात्राओं का ज्ञान तीन प्रकार की अवस्थाओं की उपलब्धि कराता है और आत्मा की चौथी अवस्था में मात्रा तथा गति का अभाव होता है और वह तुरीयावस्था कही जाती है । अब यह बताया जाएगा कि प्रणव प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गों में प्रयुक्त होता है । ओंकारस्वरूप आत्मा ज्ञानकाण्ड (वेदान्त) तथा कर्मकाण्ड (पूर्वमीमांसा) दोनों को केवल स्वीकार ही नहीं करता प्रत्युत सब प्रकार की उपासना तथा हर प्रकार की प्रवृत्ति (नास्तिक तथा आस्तिक) को भी स्वीकार करता है ।

ओमित्युक्त्वा प्रवर्तन्ते निवर्तन्तेऽथ ब्राह्मणाः ।
ओं सर्वं स्वीकरोतीव आत्मा धर्मः सनातनः ॥१७॥

अनुवाद – प्रणव का उच्चारण करके ब्राह्मण लोग कार्य प्रारम्भ करते हैं और ओम् का उच्चारण करके ही कर्म से निवृत्त (भी) होते हैं । ओम् (आत्मा) सब (विश्वास तथा प्रवृत्तियों) को स्वीकार करता हुआ सा प्रतीत होता है (ओम् का एक अर्थ 'स्वीकृति' भी है । वास्तव में आत्मा विश्वास, प्रवृत्ति तथा उनकी स्वीकृति से सर्वथा अलग ही है)। ओंकार रूप आत्मा सब का नित्य आधार है ॥१७॥

वेदों के आधार पर यह बताया गया कि आत्मा अद्वैत तथा सबका नित्य अधिष्ठान है । प्रणव की महत्ता का प्रतिपादन भी कर दिया गया है । उपर्युक्त प्रतिपादित विषय को अग्रिम श्लोक में अन्य शास्त्रों से युक्ति देकर पुष्ट किया जा रहा है ।

स्फुरति विशति संविद् यत्र सकृद् विभातः
विविधविभवभावान् नेहते नेति नेति ।
अविदितविदिताभ्यामन्यताऽनन्य एव
अहमिति परिपूर्णप्रत्ययः प्रत्यगात्मा ॥१८॥

अनुवाद – जिस ब्रह्म में संवेदन रूप ज्ञान[१] (सृष्टि के आरम्भ में **'तदैक्षत'** श्रुति से लक्षित ईश्वरीय ईक्षणवृत्ति) स्फुरित होता है (तथा उसी में) लय को प्राप्त होता है, (वह आत्मा) एक बार (ही) प्रकाशित हुआ (अर्थात् स्वयं ही सदा एक रूप से प्रकाशमान है)[२]। **'नेति नेति'** रूप उपनिषद् के आदेश से अनेक प्रकार के ऐश्वर्य तथा भावों को (वह) नहीं चाहता[३] अर्थात् स्वीकार नहीं करता । ज्ञात तथा अज्ञात दोनों से उसकी विलक्षणता[४] है (वह) अन्य से भिन्न अर्थात् निज स्वरूप ही है । मैं सब प्रकार से पूर्ण (अर्थात् परिपूर्ण) स्वरूप वाला सर्वान्तर आत्मा हूँ[५] ॥१८॥

१. संविद् का अर्थ संवेदनरूप ज्ञान है अथवा स्फुरणाभिमुख चैतन्य भी हो सकता है। यह समष्टि-अहंकार में स्फुरणरूप सृष्टिप्रक्रिया को लक्षित करता है और ब्रह्म के तटस्थ लक्षण **(जन्माद्यस्य यतः)** की ओर इंगित करता है अर्थात् ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि का जन्म तथा जिसमें सृष्टि की स्थिति तथा लय होते हैं । प्रत्यगात्मा में

जाग्रदवस्था में वृत्तिरूप ज्ञान उदित होता है तथा सुषुप्ति में लीन भी होता है । इस प्रकार **'स्फुरति विशति संविद्'** वाक्य को समष्टि तथा व्यष्टि दोनों स्तरों पर समझ कर चिन्तन का आलम्बन बनाया जा सकता है ।

२. **'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं**
सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं
तदेव चाहं सततं विमुक्तमोमिति ॥' उपदेशसाहस्री ७३(१०.१)

वेदान्तसार की सुबोधिनी टीका में उपर्युक्त पद्यांश **'सकृद्विभातम्'** पर टिप्पणी करते हुए नृसिंह सरस्वती कहते हैं **'सकृदेकदैव विभातं सर्वदैकस्वरूपेण भासमानं चन्द्रादिप्रकाशवन्न वृद्धिक्षयशीलमित्यर्थः सकृद्विभातः'।** पद्यांश का अनुवाद करते हुए इसी भाव को ध्यान में रखा गया है ।

३. ईश्वर की ईक्षणवृत्ति के उदय होने पर वैविध्यपूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है । इसमें अनेक ऐश्वर्य तथा सर्वज्ञत्वादि भावों की सत्ता है ब्रह्म में वास्तव में इनकी सत्ता है ही नहीं । 'नेति नेति' से यही दर्शाया गया है ।

४. प्रत्यगात्मा विदित तथा अविदित इन दोनों से भिन्न है। इसलिए श्रुति कहती है कि आत्मा अनन्य है, भेदशून्य है अतः अद्वैत है । आत्मा के अद्वैत होने का तात्पर्य है कि वह सबका अपना स्वरूप ही है ।

यदि **'अन्यताऽनन्य'** में तृतीया समास मान लिया जाए तो भी अन्यता का अन्वय 'अनन्य' में हो जाता है, इस प्रकार 'विदित' तथा 'अविदित' से अन्यता होने के कारण आत्मा अनन्य (अभिन्न) है अर्थात् सबका अपना स्वरूप है ।

अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि (**केनोपनिषद्** १.४) के शांकरभाष्य का सार **'अविदितविदिताभ्यामन्यता'** श्लोकांश में संगृहीत है। शंकराचार्य ने **'अविदितादधि'** में उपर्यर्थक 'अधि' का लक्ष्यार्थ **'अन्यद्'** माना है । यह प्रसिद्ध ही है कि जो जिससे ऊपर होता है वह उससे अन्य होता है । जो व्याकृत, व्यक्त तथा दुःखात्मक है, वह 'विदित' कोटि में आता है क्योंकि वह ज्ञान का विषय बनता है। व्याकृत का मूल अव्याकृत 'अविदित' है क्योंकि वह ज्ञान का विषय नहीं बनता । 'विदित' तथा 'अविदित' दोनों ही परस्पर परिच्छिन्न (सीमित) हैं और आत्मा (ब्रह्म) इनसे अन्य (आगे तथा ऊपर) है अर्थात् अपरिच्छिन्न है । परिच्छिन्न भेदयुक्त होता है तथा अपरिच्छिन्न स्वभाव से ही भेदशून्य, अपरिच्छिन्न होने से (ब्रह्म) भेदशून्य, अद्वैत तथा सबका निज स्वरूप ही है ।

५. स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से भी जो और भीतर है वह प्रत्यगात्मा है उस (अन्तरात्मा) को समाधि की **'अहं ब्रह्मास्मि'** रूप अखण्डाकारवृत्ति में यह अपरोक्ष अनुभव होता है कि मैं सब प्रकार से पूर्ण हूँ अर्थात् ब्रह्म हूँ।

यहाँ तक जो कुछ भी कहा गया है वह कपोल-कल्पित नहीं प्रत्युत वेदों का यथार्थ आशय है । यह तथ्य अगले श्लोक में स्पष्ट किया जा रहा है ।

निगमगदिततत्त्वं प्रस्तुतं सत्यसत्यम्
अमृतमभयमेतद् भाव्यते भाग्यवद्भिः ।
दमयति दमनीयं दक्षिणामूर्ति[१] मौनं
गमयति पदमन्त्यं स्वस्तिमूलं मुमुक्षून् ॥१९॥

अनुवाद - ऊपर प्रतिपादित वेदोक्त तत्त्व है (और इसलिए यहाँ) पारमार्थिक सत्य ही प्रस्तुत है। यह अमृत (आनन्दमय तथा) अभय स्वरूप है तथा भाग्यशाली मनुष्यों के द्वारा (ही) चिन्तन का विषय बनाया जाता है । शिव का मौन कामक्रोधादि का निवारण करता है तथा मुमुक्षुओं को कल्याण के हेतु परमपद की प्राप्ति कराता है ॥१९॥

१. शिव के एक रूप सद्गुरु भी दक्षिणामूर्ति नाम से जाने जाते हैं । **दक्षिणश्च अमूर्तिश्च** समास करने पर 'परमात्मा' भी अर्थ होता है । क्योंकि वे परमात्मा सृष्टि रचना में कुशल (दक्षिण) होते हुए भी मूर्तिरहित (नीरूप) हैं। इसलिए दक्षिणामूर्ति कहे जाते हैं।

आत्मतत्त्व अतिसूक्ष्म तथा दुर्विज्ञेय है । आत्मतत्त्व के सम्यक् बोध में एक बार श्रवण से सफलता प्राप्त नहीं होती । अतः इसकी बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए । यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हम आत्मबोध को असम्भव समझकर आत्मविषयक चिन्तन का सर्वथा त्याग न कर दें क्योंकि आत्मा का ज्ञान निश्चित रूप से प्राप्य है । यही बात अगले श्लोक में कही जा रही है और दृष्टान्त की सहायता से पूर्वोक्त सत्य का और भी अधिक स्पष्टता से प्रतिपादन किया जा रहा है ।

परं स्वं स्वं परं मत्वा मृगवन्मृग्यते मृषा ।
शाखाग्रे लक्ष्यते लीनो धीरैरभ्युपलभ्यते ॥२०॥

अनुवाद – शरीरादि को आत्मा समझकर तथा अपने आत्मा को अन्य (पृथक् परमपुरुषादि) समझकर मनुष्य व्यर्थ में ही मृग की तरह (सुखसन्तोषादि की) खोज करता है। (जैसे बच्चे को आकाश में प्रतिपदा का चन्द्रमा दिखाने के लिए पहले उसे) शाखा के अग्र भाग में (उसकी स्थिति लीन रूप में दिखाई जाती है तब वह चन्द्रमा वहाँ) लीन अर्थात् ढका हुआ दिखाई देता है। (उसी प्रकार पाँच कोशों[१] में आच्छादित उपनिषदों तथा यहाँ **'आत्मचिन्तनम्'** में शाखाग्र चन्द्र की तरह दिखाई पड़ने वाला आत्मा) धीर पुरुषों के द्वारा प्राप्त किया जाता है ।।२०।।

१. अन्नमयकोश (शरीर), प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश तथा आनन्दमयकोश – ये पाँच कोश आत्मा को मानो आच्छादित किए रहते हैं। आत्मा के समीपतम आनन्दमयकोश तथा बाह्यतम अन्नमयकोश है ।

गत श्लोक का निष्कर्ष यह है कि धीर पुरुष ही आत्मा का साक्षात्कार करते हैं । अब आत्मा की अपरोक्षानुभूति के पूर्व तथा पश्चात् की अवस्था संसार के सन्दर्भ में कैसी होती है? यह अगले श्लोक में प्रतिपादित किया गया है ।

अस्मिन् बृहति ब्रह्माण्डे लघुरूपोऽहमीदृशः ।
आत्मतत्त्वे च विज्ञाते लघुरूपोऽयमीदृशः ।।२१।।

अनुवाद – (आत्मज्ञान से पूर्व मनुष्य संसार के सन्दर्भ में अपने को) इस विशाल संसार में 'मैं ऐसे छोटे रूप वाला हूँ' (ऐसा समझता है) आत्मतत्त्व विज्ञात होने पर (संसार का) लघुरूप जान लेता है । ऐसे छोटे रूप वाला यह संसार है (जैसे हथेली पर रखा हुआ आंवला) ।।२१।।

हरिः ॐ तत्सत्
इत्यात्मचिन्तनम् ।